ज्ञान तत्व अंक 137
(क) लेख– अहिंसा सामाजिक आवश्यकता या संस्कार।
(ख) कार्यालयीन प्रश्नों के उत्तर।
(ग) पत्रोत्तर ।
(घ) उत्तरार्ध– व्यवस्था परिवर्तन अभियान

(क) अहिंसा सामाजिक आवश्यकता या संस्कार

आज तक कभी सम्पूर्ण विश्व में अहिंसा इतनी अधिक संकट में नहीं रही जितनी आज है। आज तो यह प्रश्न ही विवादास्पद बन गया है कि हिंसा को रोकने के प्रयत्न हिंसा का विस्तार कर रहे हैं या नियंत्रण। पूरे विश्व में एक बहस जारी है और भारत भी इस बहस से अछूता नहीं है।

पूरी दूनिया में प्रवृत्ति के आधार पर एक स्पष्ट विभाजन दिख रहा है (1) वे संस्कृतियां जो हिंसा और बल प्रयोग को पहला और सफल माध्यम मानती हैं। इनमें इस्लाम, कम्युनिस्ट, सिख, संघ परिवार आदि शामिल हैं। इस सूची में इस्लाम और नक्सलवाद तथा सिख और संघ परिवार की संस्कृति में परिस्थिति और मात्रा का अन्तर है।, किन्तु हिंसा के मामले में इन्हें अलग करके नहीं देखा जा सकता। (2) ईसाई, हिन्दू, जैन, बौद्ध, गांधीवादी आदि। इनमें भी हिन्दू कुछ अधिक मध्यमार्गी होता है और जैन बौद्ध या गांधीवादी अधिक अहिंसा के पक्षधर। यहूदी संस्कृति अब तक स्पष्ट नहीं है कि वह सुरक्षा के निमित्त हिंसा में बढ़–चढ़कर भाग ले रही है कि आक्रमण के लिए क्योंकि यहूदियों का टकराव अब तक सिर्फ इस्लामिक देशों से ही हुआ है। इसलिए उन पर अभी कोई धारणा बनाना ठीक नहीं।

पहली श्रेणी के लोब अपनत्व प्रधान होते हैं, विचारों के स्थान पर भावना को वरीयता देते हैं, न्याय की अपेक्षा संगठन को महत्वपूर्ण मानते हैं जबकि दूसरी श्रेणी के लोग न्याय को अपनत्व और संगठन पर वरीयता देते हैं तथा भावना की अपेक्षा विचार को भी उचित महत्व देते हैं तथा भावना की अपेक्षा विचार को भी उचित महत्व देते हैं। पहले प्रकार के लोग सफलता को न्याय से ऊपर मानते हैं जबकि दूसरे प्रकार के लोग सफलता से न्याय को ऊपर। हम यह भी कह सकते हैं कि पहले प्रकार के लोग न्याय की तराजू पर सफलता को तौलते हैं और सफलता पर ही उनकी दृष्टि लगी रहती है जबकि दूसरे प्रकार के लोग सफलता की तराजू पर न्याय को तौलना उचित समझते हैं और सफलता–असफलता गौंण रहती है।

हिंसा तीन प्रकार की होती है (1) सामाजिक हिंसा (2) शासकीय हिंसा (3) आपराधिक हिंसा। सामाजिक हिंसा तब बढ़ती है जब राज्य समाज को न्याय और सुरक्षा देने में विफल हो जावे तथा समाज का न्याय और सुरक्षा के लिए हिंसा पर विश्वास बढ़ता चला जावे। समाज में हिंसा बढ़ने का दूसरा कारण यह भी होता है कि पहले प्रकार के लोग हिंसा के सहारे निरन्तर आगे बढ़ते जावें और दूसरे प्रकार के लोगों के समक्ष अस्तित्व का संकट दिखने लगे। इस मामले में यदि हम भारत की विशेष चर्चा करें तो भारत में हिंसा विस्तार के दोनों ही कारक मौजूद है। शासकीय हिंसा और सामाजिक हिंसा के बीच एक विचित्र तालमेल होता है। शासकीय हिंसा जब आवश्यकता से कम होती है तब सामाजिक संस्था में विस्तार होता है और आपराधिक हिंसा में भी। जब शासकीय हिंसा संतुलित होती है तब सामाजिक हिंसा भी नियंत्रित होती है और आपराधिक हिंसा भी। किन्तु जब शासकीय हिंसा अनियंत्रित हो जाती है तब सामाजिक हिंसा भी शून्य हो जाती है और आपराधिक हिंसा भी। ऐसे समय में राज्य की तानाशाही स्थापित हो जाती है जो अहिंसा और गुलामी के बीच का भेद समाप्त कर देती है और जो बहुत दुखद होती है।

भारत में हिंसा के निरन्तर विस्तार का कारण अहिंसा के पक्षधरों की नासमझी है। ये लोग शासकीय हिंसा और सामाजिक हिंसा का अन्तर ही नहीं समझते। इनके द्वारा शासकीय बल प्रयोग

के विरोध का संस्कार हिंसा और अहिंसा के बीच असंतुलन पैदा करता है। सबसे दुखद बात यह होती है कि ये भेले लोग अहिंसक जैन, बौद्ध, हिन्दुओं की तो प्रशंसा मात्र करते हैं किन्तु हिंसक इस्लाम और साम्यवाद को सुरक्षा भी देते हैं और समर्थन भी। आज तक आपने किसी भी अहिंसक प्रमुख की आतंकवादियों के विरूद्ध या तो चुप्पी देखी होगी या अस्पष्ट बयान। किन्तु यदि संदेह के आधार पर कोई निर्दोष प्रमाणित हो जावे तो उसके पक्ष में बयानों की झड़ी आम बात है। ये लोग न्यायप्रियता के मामले में कुछ इतने अधिक संवेदनशील हो जाते हैं कि वे भूल जाते हैं कि उनका न्याय के पक्ष में दिया गया उक्त बयान व्यवस्था की कितनी क्षति पहुंचा सकता है। मुझे समझ में नहीं आता कि अहिंसा के पक्षधर, किसी घोषित हिंसक जमात के साथ बयान देने की अपेक्षा चुप भी रह जावे तब भी गनीमत है किन्तु वे तो बढ़–चढ़कर न्याय के संदर्भ पेश करने लगते हैं।

गांधी जी ने गुलामी का कालखण्ड देखा था। वे ईशामसीह की अहिंसा से भी प्रभावित थे और कबीरपंथ से हो सकता है कि व्यवस्था आने के बाद वे अपने विचारों में संशोधन करते अथवा अपने आत्मबल तपोबल के सहारे सामाजिक हिंसा को रोककर कुछ नया मार्ग सुझाते। क्या होता यह भूतकाल में समा चुका है। अब न तो कोई संशोधन की गुंजाइश रही है न ही किसी आत्मबल के प्रयोग की। बस बची है तो केवल एक बात कि अहिंसा और सरकारी बल प्रयोग का संतुलन मजबूत किया जाये। साठ वर्षों में जिस तरह समाज में हिंसा बढ़ रही है उस पर अब नये सिरे से बहस छिड़े। नये–नये उपाय हों, हिंसा को शस्त्र मानकर उपयोग करने वालों के विषय में न्याय और अव्यवस्था के नये मापदण्ड बनें तब अहिंसा का पक्ष मजबूत हो सकता है। अन्यथा कोई और मार्ग नहीं दिखता।

संघ परिवार से अपेक्षा थी कि वह हिंसा और अहिंसा के बीच संतुलन बनाने में हिन्दू संस्कृति का पक्ष मजबूत करेगा किन्तु वह तो और भी अधिक हिंसा के प्रोत्साहन में बढ़–चढ़कर भाग लेने लगा है। वेलेन्टाइन डे पर बल प्रयोग की अनुमति किसने दी है? क्या अब हिन्दुत्व को बचाने के लिए इस्लामिक तंत्र का ही सहारा लेना पड़ेगा? सर्वोदय के लोग भले ही शराफत में धोखा खा रहे हों किन्तु कम से कम हिंसा के समर्थन में तो नहीं किन्तु संघ के लोगों के तो सामान्य व्यवहार में एक पक्षीय हिंसा की गंध आती है। आमूल–चूल चिन्तन करके मार्ग निकालने की आवश्यकता है।

एक ओर सम्पूर्ण समाज में हिंसा के प्रति विश्वास बढ़ रहा है तो दूसरी ओर कायरता का भी विस्तार स्पष्ट दिख रहा है। दो आतंकवादी पांच सौ लोगों को बंधक बना लेते हैं किन्तु हिंसा के इतने विस्तार बाद भी कोई हिम्मत नहीं करता। ये दो विपरीत प्रवृत्तियां एक साथ बढ़ रही है। मुझे तो लगता है कि आज कमजोर लोगों को दबाने और मजबूत से दब जाने की घातक मनोवृत्ति जोर पकड़ रही है। पूरा विश्व मानता है कि लोकतंत्र में हिंसा का कोई स्थान नहीं है। आज भारत में लोकतंत्र है। यदि लोकतंत्र विकृत है, दूषित है तो लोकतांत्रिक तरीके से सुधारा जा सकता है किन्तु हिंसा का समर्थन नहीं किया जा सकता। दुख होता है कि भारतीय लोकतंत्र में हिंसा के समर्थन में लगातार आवाजें बढ़ रही हैं। यह एक अशुभ संकेत है। साम्यवादी देश या मुस्लिम देश तो लोकतंत्र की छाया से ही दूर भागते हैं किन्तु इन संस्कृतियों के एजेण्ट भी किसी न किसी बहाने हिंसा के समर्थन का प्रयास करते रहते हैं जो दूसरे रूप में लोकतंत्र को नुकसान पहुंचाते हैं और भारत का आम भारतीय ऐसे खतरों के प्रति बेखबर हैं।

अब भारत की भारतीय संस्कृति को चुनौती स्वीकार करनी होगी। जो व्यक्ति या संस्कृति हिंसा के बल पर भारत में सफलता का ख्वाब देख रहा हो तो उसका पूरी सरकारी ताकत से फन कुचलना होगा। जो लोग अहिंसा के पक्ष में सीना तानकर खड़े हो उन्हें संगठित करना होगा और जो हिंसा के समर्थक न्याय और कानून की दुहाई देकर हिंसक प्रवृत्ति की सुरक्षा में ढाल बनते हों उन्हें भी बेनकाब करना होगा। अब तक अहिंसा हमारी संस्कृति रही है जिसकी कमजोरियों का लाभ उठा–उठाकर हिंसक संस्कृति मजबूत होती रही है। अब अहिंसा को हम संस्कार की जगह अपनी आवश्यकता घोषित कर दें और अहिंसा की सुरक्षा के लिए किसी भी सीमा तक हिंसा की स्वीकृति दें क्योंकि सामाजिक अहिंसा की सुरक्षा का आस्तित्व व्यवस्था की संतुलित हिंसा पर ही निर्भर करता है। यदि प्रशासनिक बल प्रयोग में कमी की गयी तो हम हिंसा से तो बच ही नहीं

सकेंगे, हमारी अहिंसा भी खतरे में पड़ जायेगी। इस मुद्दे पर समाज में व्यापक बहस छिड़नी चाहिए।

(ख) कार्यालयीन प्रश्नों के उत्तर

ज्ञात तत्व अंक एक सौ चौंतीस में भाई सर्वनारायणदास जी का एक विस्तृत पत्र छपा था। इतना लम्बा पत्र हम छाप नहीं पाते किन्तु पूरे पत्र का कोई शब्द निकालना पाठकों के साथ अन्याय हो सकता था यह मानकर उसे पूरा प्रकाशित किया गया। उक्त पत्राचार के विषय में कई फोन भी आए और कई पाठकों ने सर्वनारायण जी के पत्राचार पते के साथ–साथ कुछ अधिक जानना चाहा है। सर्वनारायण जी का पता इस प्रकार है–

श्री सर्वनारायण दास जी, चूनाभट्ठी, शान्ति सदन डी.ए.वी. स्कूल के पास, दरभंगा – 846003

सर्वनारायण दास जी से मेरा व्यक्तिगत सम्बन्ध और परिचय नहीं के बराबर होते हुए भी मेरे मन में उनके प्रति पूरा सम्मान है। आज भारत में संस्कारित गांधीवादियों की तो बाढ़ आई हुई है। गली–गली में आपको गांधी के नाम पर काम कर रहे लोग मिल जायेंगे। किन्तु गांधी की नकल से तो गांधी विचार आगे नहीं बढ़ सकता। उसके लिए तो विचार मंथन करना होगा। मैंने बहुत प्रयत्न करके महसूस किया कि सर्वनारायणदास जी ने भले ही अपना प्रारम्भिक जीवन गांधी संस्कारों से शुरू किया हो किन्तु आज तो वे गांधी विचारों का प्रतिनिधित्व करने वालों में आगे–आगे चल रहे हैं। मैंने अपने अनुभव क्रम में ठाकुर दास जी बंग और सर्वनारायण भाई को पाया कि ये गांधी को संस्कारों की अपेक्षा विचारों से अधिक समझने का प्रयत्न करते रहे। आपने सर्वनारायण भाई का एक पत्र पढ़ा। आपके निवेदन पर मैं उनका एक दूसरा पत्र प्रकाशित कर रहा हूं जो दिसम्बर दो हजार दो में लिखा गया था। इस पत्र में पढ़कर आप समझ सकेंगे कि सर्वनारायण भाई कितने संतुलित विचार रखते हैं–

धर्मान्तरण, सेक्युलरिज्म और सर्वधर्म– समभाव

भारत वर्ष आरम्भ से ऐसी भूमि रहा है, जहां दुनिया भर के सभी धर्मों, जातियों के लोग मुक्तता से आते रहे हैं। सभी प्रकार के लोगों का, संस्कृतियों का एक संगम–स्थल रहा है। और इसी में से वह चीज प्रकट हुई, जिसे भारतीय संस्कृति के नाम से जाना जाता है। ईसाई धर्म यूरोप में पहुंचने के बहुत पहले ही भारत आ गया था और मलाबार में सन् 52 में पहला चर्च बना था। हमलावरों के हाथ पड़ने के पहले ही सूफियों के मार्फत इस्लाम भारत आ चुका था और यहां के भागवत–धर्म की भक्ति–परम्परा से प्रभावित हो सूफीमत विकसित हो चला। इसी तरह पारसी, यहूदी आदि आये और सबका स्वागत किया गया। जब गुरूदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर इसे ''महामानवरे सागर तीरे'' कहकर आये–अनार्य, मुसलमान–खष्टी आदि सभी लोगों को आने का आह्वान करते हैं, तब उनकी वाणी में भारतीय संस्कृति की आत्मा की पुकार ही ध्वनित होती हैं वे भारत–भूमि से विश्व–संस्कृति के उदय का ही स्वप्न देखती हैं।

जिस विश्व–संस्कृति के निर्माण की आकांक्षा आज मानव–चित्र में प्रकट हो रही है, भारतीय संस्कृति उसी का प्रारम्भिक रूप था, एक माडल है। यहां के जीवन–दर्शन तथा परम्परा से विश्व संस्कृति निर्माण की ओर बढ़ा जा सकता है। लेकिन पिछली शताब्दियों में पश्चिम से एक धारा यहां पहुंचकर काम कर रही है, जो मानती है कि उसके सिवाय अन्य सारे धर्म, खासकर गैर सेमेटिक धर्म अज्ञात के ही पयार्य हैं। उन 'हीदेन' लोगों, ज्ञान–प्रकाश से सदा वंचित रहे लोगों का धर्मान्तरण करा कर इनका उद्धार करना उसकी चिन्ता रही है। स्वभावतः इस धारा का भारतीय संस्कृति की धारा से मेल नहीं बैठता और राष्ट्रीय जीवन में असंतुलन निर्माण होते हैं। पश्चिम की धारा यहां के जीवन–दर्शन, जीवन के मूल पर ही घातक प्रहार कर रही है। ऊपरी सतह पर समय–समय पर दरारे बनती तो नजर आती है, लेकिन संकट का मूल गहराई में कहां है, इस ओर ध्यान प्रायः नहीं जाता। बीच–बीच में कुछ प्रतिक्रियाएं प्रकट होती है, तो उन्हें साम्प्रदायिक या राजनीतिक कहकर खारिज कर दिया जाता है और सवाल की ओर आंखें मूंद ली जाती हैं। अतः यहां इस खुले दिमाग से, पूर्वाग्रह–मुक्त मन से पूरे सवाल पर विचार करें, और ऐसा करते वक्त

इस तथ्य को भी हम जरा बाजू कर दें कि महात्मा गांधी के इस बारे में क्या अभिमत थे? उन्होंने खीस्ती मिशनरियों के धर्मान्तरण–सम्बन्धी क्रिया–कलाप को सर्वथा अधार्मिक ही करार दिया था। मिशनरियों द्वारा कुष्ठ सेवा, आरोग्य आदि क्षेत्रों में की जा रही सेवा के लिए गहरा प्रशंसा भाव रहते हुए भी धर्मान्तरण की दृष्टि रखकर किये जाने की वजह से गांधीजी की नजर में उस सेवा की कीमत बहुत घट जाती थी। सेवा दूषित हो जाती थी। वैसे यह तथ्य भुलाने लायक नहीं कि ये विचार उस व्यक्ति के हैं जिसके जीवन पर गीता के बाद Sermonon the Mount का ही सर्वाधिक प्रभाव थी, जिसके मित्रों और प्रशंसकों की संख्या उस देश में भी अनगिनत थी, जिसकी सल्तनत के खिलाफ भारत में वह जूझ रहा था और उन मित्रों व प्रशंसकों में ईसाई धर्माचार्यों की संख्या भी कम नहीं थी, जिसकी पहली जीवनी लिखने का श्रेय दक्षिण अफ्रीका के रेवरेंड डोक को है, जिसके नेतृत्व में चले स्वराज्य–आन्दोलन में अमेरिका से धर्मप्रचार के लिए भारत आये रेवरेंड कैथाल ने भाग लिया था, जिसके लिए इस अमरीकी पादरी को ब्रिटिश हुकूमत ने प्रथम देश निकाला और फिर जेल की सजा दी थी, इंग्लैण्ड के वैभव–भरे जीवन का त्याग कर मीरा बहन (मिस स्लेड) सरला बहन मार्जरी साइक्स जैसी कुमारिकाओं ने जिसकी छाया में रहना स्वीकार किया और जिसके बताये सेवा कार्यों में आजीवन तल्लीन रहीं।

धर्मान्तरण कार्यक्रम के लिए भारत में ब्रिटिश हुकूमत के समय जो वरदहस्त प्राप्त था, वह आजादी मिलने पर और यहां सेक्युलर स्टेट की स्थापना होने से किसी भी मजहब के लिए संभव हीं नहीं रह गया। तथापि खिस्ती मिशनरियों द्वारा इस कार्यक्रम पर राज्य की ओर से किसी भी प्रकार की रोक लगे, बाधा डाली जाय इसका विरोध मिशनरियों के अलावे कतिपय ऐसे भारतीय करते रहे हैं, जिन्होंने अपना धर्मान्तरण नहीं किया है, करने का कोई विचार भी नहीं। धर्मान्तरण कार्यक्रम के लिए खुली छूट रहनी चाहिए। इस मांग के पक्ष में मुख्यतया तीन तर्क हैं– (1) धर्मान्तरण पर रोक लगाने से संविधान प्रदत्त नागरिक की धार्मिक स्वतंत्रता का हनन होता है। (2) इससे संविधान प्रदत्त अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता–सम्बन्धी मौलिक अधिकार पर आघात होता हैं, (3) ऐसी कोई रोक लगाना सेक्युलरिज्म के खिलाफ काम है। एक नया तर्क और दिया गया है कि धर्मान्तरण कराना धार्मिक अल्पसंख्यकों को मौलिक अधिकार है। जहां तक इस नये तर्क का सवाल है, धर्म से इसका कुछ भी लेना–देना नहीं, धर्म निष्ठा, दान अर्थात फेथ से इसका कोई ताल्लुक नहीं। इसके पीछे सिर्फ संख्या–विस्तर की दृष्टि है, राजनीतिक प्रभाव–विस्तार का ख्याल है। यह दृष्टि राजाओं के साम्राज्य–विस्तार की वृत्ति से मिलती जुलती है। अलावे इसी मुद्दे पर सुप्रीम कोर्ट से 1977 के फैसले में स्पष्ट कहा है कि धर्म प्रचार के अधिकार का मतलब धर्मान्तरण कराने का अधिकार नहीं।

जहां तक धर्मान्तरण के लिए खुली छूट पर रोक लगाये जाने के सम्बन्ध में नागरिक के धार्मिक स्वतंत्रय, अभिव्यक्ति–सम्बन्धी स्वातंत्रय तथा सेक्युलरिज्म के आधार पर आपत्तियां की जाती हैं, उनके बारे में ठंढे दिमाग से विचार करना अपेक्षित है। ऊपर–ऊपर से यानी सतही तौर पर ये आपत्तियां सही प्रतीत होती है। लेकिन व्यापक पहलुओं को ध्यान में लेकर गहरायी से देखा जाए तो ये आपत्तियां गलत और बेबुनियाद ठहरती हैं। धर्मान्तरण, धर्म–परिवर्तन नागरिक के धार्मिक स्वतंत्रय, अभिव्यक्ति सम्बन्धी स्वातंत्रय का जो दायरा है, उससे कहीं गहरी चीज है। सच देखा जाए तो धर्मान्तरण, कार्यक्रम स्वयं ही नागरिक के धार्मिक और अभिव्यक्ति–सम्बन्धी स्वातंत्रय पर आघात करता है और सेक्युलरिज्म का हनन करता है। निम्न तथ्यों पर गौर करने से यह बात स्पष्ट हो जाने वाली है।

(1) कोई व्यक्ति जिस तरह किसी पार्टी व विचारधारा में आस्था रखने को स्वतंत्र हैं, वैसी बात धर्मान्तरण के बारे में नहीं। अध्ययन, अवलोकन और अनुभवों के प्रकाश में जब कभी उसे योग्य और आवश्यक दिखे, वह विचारधारा व पार्टी छोड़ सकता है, बदल सकता है। ऐसा करने का प्रसंग जीवन में अनेक बार आ सकता है। लेकिन धर्म का, मजहब का मामला बिल्कुल अलग तरह का है।

(2) पार्टी व किसी विचारधारा में आस्था के कारण नागरिक के सम्बन्धित परिवार और समुदाय के जीवन प्रवाह में कोई फेरबदल नहीं आता, कोई संकट व असंतुलन निर्माण नहीं होता। एक ही परिवार के सदस्य अलग–अलग विचारधाराओं में आस्था रख सकते हैं, उनका लगाव

अलग–अलग व एक दूसरे की विरोधी पार्टियों से, संगठनों से हो सकता है। इस कारण से परिवार के जीवन में कोई व्यवधान व संकट खड़ा नहीं होता। लेकिन ऐसा मजहब के मामले में संभव नहीं। ऐसा नहीं होता कि एक परिवार के सदस्यों में से कोई हिन्दू हो, कोई मुसलमान हो, कोई ईसाई हो, यानी हर धर्म, मजहब के साथ एक अपना ढांचा होता है, अपनी संहिता, कोड होता है। वह सिर्फ उपासना– पद्धति तक ही सीमित नहीं होता। परिणाम स्वरूप परिवार के सभी सदस्य एक साथ एक ही ढांचे में रहने को बाध्य हैं।

(3) कोई परिवार जब धर्म परिवर्तन करता है– क्योंकि परिवार के साथ ही धर्म परिवर्तन करना संभव है – तब वर्तमान में मौजूद सदस्य सिर्फ अपना ही धर्म नहीं बदलते, बल्कि बाद की पीढ़ियों का भी वे धर्म बदल डालते हैं। यानी वे तय कर डालते हैं कि आगे जन्म लेने वालों को कौन–सा धर्म मानना होगा, किस सामाजिक ढांचे में रहना होगा। इसमें नागरिक के धर्म और अभिव्यक्ति–सम्बन्धी स्वातंत्रय का स्पष्ट हनन है। होना तो यह चाहिए, जैसा कि विनोबा जी ने कहा था– जन्म से किसी व्यक्ति का मजहब नहीं माना जाए। अट्ठारह साल का हो जाने पर जब कि उसे मताधिकार प्राप्त होता है, हर नागरिक अपना–अपना मजहब घोषित करे और वही उसका मजहब माना जाये। ऐसा करने में ही नागरिक की धर्म और अभिव्यक्ति सम्बधी स्वतंत्रता निहित है। इसमें कहां की धार्मिक स्वतंत्रता है कि बाप–दादे द्वारा बच्चे पर जब कि वह बिल्कुल अबोध है, मजहब थोप डाला जाए जिसके बारे में उसे कोई कल्पना व समझ ही नहीं।

(4) धर्मान्तरण में यह भी गृहीत होता है कि अन्य सारे धर्म, मजहब घटिया हैं, ज्ञान के प्रकाश का इनमें अभाव है और मनुष्य के उद्धार का एकमात्र साधन हमारा धर्म ही है। इस दृष्टि में मिथ्यावाद, अहंकार और दंश भरा है। यह दृष्टि समाज और राष्ट्र के जीवन में विग्रह एवं असहिष्णुता का सृजन करती है। इसके क्या नतीजे होते हैं, उनकी कहानियों से इतिहास के पन्ने भरे हैं। दो–तीन शताब्दियों से यूरोप प्रगत विचारों का, दर्शनों का और चमत्कारिक वैज्ञानिक खोजों का भले ही उद्‌गम रहा है। लेकिन यहां तक पहुंचने में धार्मिक संकीर्णता के कारण कैसी अग्नि परीक्षा से गुजरना पड़ा है, यह भुलाया नहीं जाना चाहिए। रिफॉर्मेशन–धर्म सुधार के युग में सत्यनिष्ठ और धर्मप्राण व्यक्तियों को इनक्वीजीसन के तहत ईसाई संघ के आदेश पर जिन्दा जलाने का अभियान चला था। इस इन्क्वीजीसन नामक अमानुषिक संस्था का सृजन पन्द्रहवीं शताब्दी में ईसाई संघ द्वारा स्पेन में अरब मूल के मुसलमानों का नामानिशान मिटाने के उद्‌देश्य से किया गया। उन लोगों का कत्ल किया गया, जिन्दा जलाया गया व जबरन ईसाई धर्म के वास्ते किये गये। यूरोप में यहूदियों और मुसलमानों पर किये गये अमानुषिक अत्याचारों के अलावे ग्यारहवीं बारहवीं सदी में डेढ़ सौ वर्षों तक जो क्रूसेड चले, ईसाईगत और इस्लाम, सलीब और हिलाल के बीच लड़ाईयां अलग हैं। इन क्रूसेड़ों के नाम पर जो कृत्य किये गये, कोई भी इसाई उन पर गर्व नहीं कर सकता। मजा यह कि मुसलमानों के कब्जे से पवित्र भूमि यरूशलम को मुक्त कराने के उद्‌देश्य से ये क्रूसेड लड़े गये, लेकिन रोम के पोप का अपना एजेन्डा कुस्तुन्निया के चर्च को अपने अधीनस्थ करना भी था। कुस्तुन्निया का चर्च अपने को ही शुद्ध (Orthodox) चर्च मानता था और रोमन चर्च को मान्यता नहीं देता था। रोमन चर्च उनकी नजर में धर्म में मिलावट करने वाला चर्च था। अतः क्रूसेड़रों ने कुस्तुन्निया के (Orthodox) चर्च को तहस–नहस करने में कोई कसर नहीं छोड़ी। चाहे मुसलमान हों या यूनान के ऑर्थोडाक्स चर्च रोमन चर्च के लिए एक जैसे काफिर थे। ऐसे अनुभव हमें सबक देते हैं कि जब भी धर्मविचार संस्था संगठन में आबद्ध होता है, हर बार धर्म fossitized religion हो जाता है यानी संगठन धर्मविचार का कब्र होता है।

धार्मिक उन्माद कैसा कहर धरती पर ला सकता है, यह चीज पिछले आठ दशकों से हम यानी दक्षिण एशिया के लोग देख और झेल ही रहे हैं। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि ऐसी बात भारत के सम्पूर्ण इतिहास में पहले कभी नहीं हुई। पारसी लोग इस देश में आये वे लोग ''देवता'' के लिए 'असुर' और 'राक्षस' के लिए 'सुर' शब्द का प्रयोग करने वाले हैं, और ईश्वर को वे 'अहुरमज्द' 'यानी' 'असुर महान' कहकर सम्बोधित करते हैं। लेकिन भारत वासियों को कभी कोई आपत्ति नहीं हुई। अबीसिनीया से समुद्र पार कर जमातें आयी, जो कुत्ते का मांस खाने वाली थी। उनको समुद्र में वापस धकेल नहीं दिया गया। श्वपच होने से अपनी बस्ती में उन्हें जगह नहीं दी

जा सकती थी, तो गांव से बाहर, थोड़ा हटाकर उनको आश्रय दे दिया गया, आजीविका की व्यवस्था भी कर दी गयी। धार्मिक–सांस्कृतिक वैर विग्रह अंग्रेजी सल्तनत की देन है। उन्होंने शाश्वत काल तक अपना राज चलाने के हेतु से भारत में हर जमात, हर तरह से बढ़ावा दिया। वे तो आखिर पहले ही चले गये, लेकिन भारत उनकी लगायी आग से झुलस ही रहा है। आसेतु हिमालय के इस भूखण्ड के टुकड़े–टुकड़े कर, उनके दूसरे के दुश्मन राष्ट्र बनाकर जाने का श्रेय अंग्रेजों ने हासिल किया है। यह सारा भूखण्ड, भारत वर्ष हजारों सालों से एक संस्कृति, एक सभ्यता, वाला एक देश रहा। राजनीतिक एकता, एक केन्द्रित शासन का इतने बड़े भूखण्ड में बनना और कायम रह पाना संभव ही तब नहीं था। दूसरी ओर नजर डालें तो विज्ञान युग के बावजूद पश्चिमी यूरोप के देश बड़ी मुश्किल से साझा बाजार बनाने की तैयार हुए जो आज आर्थिक संघ तक पहुंचे हैं एक राष्ट्र बनना अब भी दूर की मंजिल है।

यहां यह कबूल करना ही पड़ता है कि भारत में इस्लाम जिस तरह फैला, उसकी काली छाया आज तक कायम है। इतिहास की यह एक पहेली ही है कि इस्लाम पश्चिम में यूरोप तक गया, वह तो काफी उदार और सुसंस्कृत था। लेकिन भारत का जिस इस्लाम से संबंध आया वह बहुत अनुदार, कट्टर और जुल्मी का था! शायद इसका कारण यह हो कि पश्चिम में जिनके द्वारा इस्लाम पहुंचा, वे अरब निवासी थे। ये विद्यानुरागी और सभ्य थे। इस्लाम की धार्मिक चेतना से अनुप्रमाणित थे। इनके समक्ष रोमन चर्च वाले ही जगली ठहरते थे। दूसरी ओर भारत में इस्लाम लाने और फैलाने वाले अफगान, तातार, मंगोल आदि हमलावर थे, जिनका असली मकसद राज जीतना, दौलत लूटना था। चूंकि ये लोग मुसलमान थे, तो इस्लाम को जबरन फैलाने का काम भी किया। लेकिन अरबों और ईरानियों की तुलना में ये अफगान तातार और मंगोल असभ्य व अर्धसभ्य जातियां ही थी। महमूद गजनवी जैसे लुटेरे हमलावरों को मजहब से कोई खास मतलब नहीं था। उसने सोमनाथ मंदिर को तोड़ा तो बलूचिस्तान में मस्जिदें भी गिरायी, और चुप न बैठने पर बगदाद के खलीफा को मौत की धमकी दी थी, दरअसल अरबों का दक्षिण भारत के राजाओं खासरकर राष्ट्रकूट के साथ दोस्ताना सम्बन्ध थे, और बहुत सारे अरब भारत के पश्चिमी किनारे पर बस गये और अपनी बस्तियों में मस्जिदें बनवायी थी, अरब विद्यार्थी काफी संख्या में तक्षशिला विश्वविद्यालय में पढ़ने आते थे और हारू अल रशीद के समय भारतीय विद्वानों का बगदाद में बड़ा आदर था। गणित और ज्योतिष के संस्कृत ग्रंथों का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया था। हमलावरों से कोई सौ साल पहले से मुसलमान धर्म प्रचारक भारत भर में घूमते थे और शान्ति पूर्वक प्रचार करते थे। लोग उनका स्वागत करते थे। तथापि जैसा कि पं. नेहरू 'विश्व इतिहास की झलक' में लिखते हैं। ''इस्लाम भारत में गलत तरीके से आया और बहुत देर से (यानी चार सौ वर्ष बाद) आया। अगर अरब लोग शुरू में ही इस्लाम को लेकर भारत आये होते, तो उन्नतिशील अरबी संस्कृति और पुरानी भारतीय संस्कृति आपस में मिल गयी होती, दोनों एक दूसरे पर असर डालती, जिसके महान परिणाम आये होते। अरब लोग मजहब के मामलें में उदारता और बुद्धिवाद के लिए मशहूर थे। लेकिन आग और तलवार लेकर आने वाले हमलावरों से भारत में इस्लाम के नाम को जितना धक्का पहुंचा, उतना दूसरी किसी वजह से नहीं। ''तथापित हमलावरों के यहां के बाशिन्दे बन जाने पर भारत की धरती की कीमिया की वजह से इस्लाम और भारतीय संस्कृति के मिलन और समन्वय की प्रक्रिया आरम्भ हो गयी, जो बहादुरशाह जफर तक जारी रही। इस सिलसिले में औरंगजेब के नाम का जिक्र आना लाजिमी हो जाता है। औरंगजेब बेशक एक धार्मिक मनुष्य था। मजहब के मामले में अपनी निजी जिन्दगी में भी वह बहुत पाबन्द और कट्टर था। अपने मजहबी विश्वास के तहत ही उसने अपनी प्रजा की हिन्दू आबादी को जबरन मुसलमान बनाने की जोरदार कोशिश की। वैसे यह काम इस्लाम के खिलाफ ही था, क्योंकि कुराम स्पष्ट आदेश देता है कि दीन (धर्म) के मामले में कोई जबरदस्ती नहीं हो सकती। समन्वय की जो प्रक्रिया चल रही थी और जोर पकड़ चुकी थी, उसको औरंगजेब के कारण गहरा झटका पहुंचा। लेकिन इस घटना को इस्लाम के साथ न जोड़कर कुछ दूसरे नजरिये से देखने की जरूरत है। ऐतिहासिक नियति हमेशा सीधी और सरल राह ही नहीं चुना करती। नदी की धारा की तरह टेढ़ी–मेढ़ी, कभी–कभी उलटी दिशा भी पकड़ लेती है। अगर औरंगजेब के बजाय दाराशिकोह दिल्ली की गद्दी पर बैठा होता, तो..... लेकिन

नियति शायद चाहती होगी कि अन्वस तथा व्यतिरेक, दोनों तरीकों से भारत की समन्वय–साधना चले। और व्यतिरेक पद्धति का उपयोग ऐतिहासिक नियमि ने भारत में कोई पहली बार ही किया हो, ऐसा बात नहीं। समन्वय की प्रक्रिया में सबसे गहरी रूकावट अंग्रेजों ने डाली। लॉर्ड मॉउन्ट बैटेन की इस उक्ति में जो उन्होंने देवेन्द्र कुमार गुप्त से अपनी लंदन–आवास पर बात–चीत में कही थी, क्वाइव से लेकर आखिर तक अंग्रेजों के कारनामों की कहानी का निचोड़ आ जाता है। ''भारत–विभाजन की हमारी योजना में सबसे भारी रूकावट महात्मा गांधी ही थे। उनके पीछे हमने क्या–सब किये, यह हमी जानते हैं।''

इसी क्रम में भारत भूमि की उस कीमियां की यहां थोड़ी चर्चा कर लें, जिसके बदौलत आरम्भ से समन्वय–साधना अव्याहत चलती आयी है। स्वामी विवेकानन्द ने पश्चिम वालों को भारतीय संस्कृति की विशेषता की जानकारी देते हुए कहा था कि अंग्रेजी भाषा के to exclude क्रियापद के लिए संस्कृत भाषा में कोई धातु नहीं है, उपसर्गादि लगाकर अलग से शब्द बनाना पड़ता है। यह संस्कृत भाषा की कमी नहीं भारतीय संस्कृति का गौरव है। मैक्समूलर का , जो मूलतः भाषा विज्ञानी थे और इसी रूचि के कारण ग्रीक, लैटिन, संस्कृत, अरबी आदि भाषाओं का अध्ययन किया, वेदोपनिषद विभिन्न प्राचीन ग्रन्थों और दर्शनों का अध्ययन कर मानवीय विचारों के विकास का सूक्ष्म अवलोकन किया था, कथन है। Languge is the antoblography of human wind भाषा मानवीय चित्त की आत्म कहानी है। तात्पर्य यह कि to exclude के लिए संस्कृत भाषा में कोई धातु न होना संस्कृत भाषा निर्माण के समय हुई आकस्मिक घटना व अनवधान का परिणाम नहीं। भारत का आन्तरिक चित्त, हृदय exclude करना जानता ही नहीं। उसे यह विचार कभी छुबा ही नहीं, सूझा ही नहीं। जो भी यहां की धरती पर आयेगा, उसे वह शामिल कर लेगा और उसके गुण ग्रहण कर और फिर अपना रूप देकर उसको अपना बना लेगा। यह मिट्टी की सिफत है।

(4) अब हम दूसरे एक गंभीरतर पहलू का विचार करें। जब कोई आदमी पहले वाला धर्म छोड़कर नया धर्म स्वीकार करता है, तो वह जाहिर करता है कि उसके बाप–दादा, पूर्वज मूर्ख थे, अज्ञान और अंधकार थे। इस तरह वह न केवल अपने बाप–दादा की परम्परा और विरासत से नाता तोड़ लेता है, बल्कि अपने समुदाय और राष्ट्र के सम्पूर्ण अतीत और इतिहास से ही अलग हो जाता है। परिणाम स्वरूप आत्म पहचान का गहरा संकट (Crisis of Self Identity) निर्माण होता है। जिस इतिहास और परम्परा में व्यक्ति ने जन्म लिया, पला–पुसा और बड़ा हुआ, उससे कटकर एक ऐसी परम्परा और इतिहास को वह स्वीकार करता है जो कभी उसका नहीं था। फिर अपनी धरती पर रहते हुए भी इस धरती में उसकी जड़ नहीं रहती और वह अपनी जड़ उस धरती में ढूंढता है, जो उसकी कभी रही नहीं। यह संकट कितना गहरा है यह सहसा ध्यान में नहीं आता। 'बार बेबीज' की हालतों पर से कुछ अंदाज हो सकता है। युद्ध के समय सैनिकों के स्त्रियों पर बलात्कार के कारण जो बच्चे जन्म लेते हैं उनके बाप का कोई पता नहीं होता। परिणाम स्वरूप ये बच्चे अस्वस्थ चित्त के हो जाते हैं, बड़े होकर स्वाभाविक नागरिक की तरह जीना अशक्य–प्राय होता है। समाज के सामने मुश्किल समस्या बन जाती है। इसी कारण विनोबा जी ने धर्मान्तरण को De-nationalise यानी राष्ट्रीय सत्व वे विरहित करने का प्रोग्राम बताया था। दूसरी और यहूदी और पारसी कौमों को देखें तो डेढ़–दो हजार साल पहले अपनी धरती से उखड़ जाने के बावजूद वे अपनी इतिहास और परम्परा से बराबर चिपके रहे, उनकी अपनी जड़ कभी कटी नहीं। इन कौमों पर और जो भी संकट आगे हों, आत्म पहचान का संकट कभी नहीं आया। एक सवाल यहां उठाया जा सकता है कि विज्ञान युग में जब वैश्वीकरण की प्रक्रिया जोरों से चल रही है, एक वैश्विक संस्कृति का निर्माण होना है, इसमें अलग–अलग पहचानों, राष्ट्रीय व सांस्कृतिक अस्मिताओं के लिए क्या स्थान है? विश्वमानव का आदर्श और 'जय जगत' के मंत्र के साथ विनोबा जी की राष्ट्रीय सत्व की रक्षा की चिन्ता कहां तक मेल खाती है? दोनों सवालों का उत्तर एक ही है, जो बहुत सरल व साफ है। मनुष्य का जैसे एक व्यक्तिगत शरीर रहता है, इस शरीर की मर्यादा में रहकर ही दुनिया को कुछ दे सकता है, उसी प्रकार उसका एक सामुदायिक शरीर होता है। इस सामुदायिक शरीर की मर्यादा में यानि राष्ट्रीय सत्व के आधार से ही मनुष्य, मनुष्य की तरह जी

सकता है, दुनिया की कुछ सेवा कर सकता है, वैश्विक संस्कृति के लिए जरूरी है कि राष्ट्रीय सत्वों को कोई हानि नहीं पहुंचायी जाये, इन्हें अधिक उदात्त और विकसित बनाया जाये, ताकि वैश्विक संस्कृति के रूप में प्रस्फुटित हों।

सारांश, धर्मान्तरण कोई महज मामूली व निर्दोश कार्य नहीं। यह निरा अनिष्ट ही हैं। धर्म परिवर्तन पर सम्पूर्ण प्रतिबन्ध लगाना संभव नहीं और उसकी जरूरत भी नहीं। लेकिन इसके अनिष्ट से बचने के लिए निहायत जरूरी है कि धर्मान्तरण को हतोत्साहित किया जाये। जिस प्रकार हिन्दू समाज में विवाह बंधन में बंध जाने के बाद पति व पत्नी अपने मनमौजीपन व सनक में आकर जब चाहे विवाह सम्बन्ध विच्छेद कर ले, कानून इसकी इजाजत नहीं देता। कोर्ट तभी तलाक मंजूर करता है जब उसे पूर्णतः विश्वास हो जाये कि वह विवाह बिल्कुल असफल रहा है, पति–पत्नी के रूप में दोनों का साथ रहना असंभव है और तलाक के सिवा कोई चारा नहीं। कोर्ट तब भी तलाक के लिए इजाजत देते वक्त पूरी सावधानी रखता है कि दूसरे पक्ष और इसके बच्चों के साथ बेइंसाफी न हो। धर्म परिवर्तन के लिए भी कोर्ट की मंजूरी लेना लाजिमी कर दिया जाये और कोर्ट तभी इजाजत दे, जब वह संतुष्ट हो जाये कि धर्म परिवर्तन आस्था और उपासना के हेतु से किया जा रहा है, नये स्वीकार किये जा रहे धर्म की खूबियां–खामियों और छोड़े जाने वाले धर्म की खूबी–खामियॉ पर सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा अच्छी तरह विचार किया गया है। हर हाल में थोक धर्मान्तरण पर सम्पूर्ण रोक लगानी ही चाहिए। साथ ही यह व्यवस्था की जानी चाहिए कि राज्य की दृष्टि में अट्ठारह साल की उम्र के पहले नागरिक का यानी जन्म से कोई धर्म नहीं माना जाये। बालिग हो चुकने पर नागरिक अपना जो धर्म घोषित करें, उसी को राज्य मान्यता दें। ऐसा किया जाना नागरिक स्वतंत्रता की दृष्टि से निहायत जरूरी है। सेक्युलरिज्म का तकाजा है कि धर्मा को सर्वथा वैयक्तिक वस्तु ही मानी जाये। मजहब को राज्य की ओर से सामाजिक ग्रुप, समुदाय के रूप में मान्यता देना और फिर धार्मिक अल्पसंख्यक–बहुसंख्यक के फर्क खड़ा करना सेक्युलरिज्म के नितान्त विरूद्ध है। थोड़े से व्यक्ति ऐसे हैं, जो ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते। विचार पूर्वक यानी आस्था से वे नास्तिक बनें हैं। अर्थात् नास्तिकता ही उनका धर्म है। आस्तिकों द्वारा अनेक बाद इनका उत्पीड़न भी किया जाता है। तथापि नास्तिक–आस्तिक के रूप जिस प्रकार धार्मिक अल्पसंख्यक–बहुसंख्यक का सवाल नहीं उठता, उसी प्रकार हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, पारसी, बौद्ध, जैन आदि के बारे में भी अल्पसंख्यक–बहुसंख्यक के सवाल कम से कम राज्य की नजर में तो नहीं होने चाहिए। ये फर्क समाज में है, तो रहें, लेकिन राज्य अपने काम–काज में बिल्कुल अछूता रहे। तभी सेक्युलरिज्म सुरक्षित रहने वाला है।

धार्मिक लोगों के लिए अंत में एक सूचना। एशिया में काम कर रहे कुछ प्रमुख मिशनरी गांधी जी से मिलने सेवाग्राम पहुंचे थे। वे एक हिन्दू के पास आये थे, जो उनकी नजर में ईसा की सिखावन पर पूरा–पूरा चल रहा था। तब पहली बात बापू ने उसने कही– '' आज सारे के सारे धर्म निकम्मे हो चुके हैं। अगर एक भी धर्म असलियत पर होता तो दुनिया की यह हालत नहीं होती।'' इस कथन में रहे सत्य को वे धर्माचार्य अस्वीकार नहीं कर सके। अतः सभी धार्मिक लोगों को, खासकर उन धर्मोत्साहियों को जो सारी दुनिया को अपने धर्म के झण्डे के नीचे लाने को बेसब्र हैं, एक क्षण रूककर जरा देख लेना चाहिए कि गांधी के कथन में कहां तक सत्यता है।

कार्यालयीन प्रश्नों के उत्तर

प्रश्नः – अखबारों में समाचार छपा है कि उत्तर प्रदेश के एक गांव में अकाल की आशंका को देखते हुए पंचायत के पुरूषों ने गांव की एक महिला को दण्ड स्वरूप हल में जोत दिया। महाराष्ट्र की एक महिला का चित्र टी.वी. में दिखा जिसमें एक महिला हल जोत रही है। स्वतंत्रता के साठ वर्ष बाद भी महिलाओं के साथ ऐसा अत्याचार क्यों? क्या महिलाएं समाज का अंग नहीं? आप भी अपने विचार व्यक्त करें।

उत्तरः – अखबारों का समाचार तो मैंने नहीं पढ़ा, किन्तु टी.वी. का चित्र देखा है। पूरे भारत में खेती करते समय आमतौर पर पुरूष ही हल जोतते हैं। सामाजिक तौर पर महिलाओं के हल जोतने पर रोक लगी हुई है। यदि किसी परिवार की महिला हल जोतने के लिए मजबूर है तो

यह पुरूष प्रधान समाज व्यवस्था में पुरूष की अकर्मण्यता मानी जाती है जिसे कोई पुरूष स्वीकार नहीं कर सकता। प्रश्न उठता है कि महिला का हल जोतना महिला समानता है या अत्याचार?

प्राचीन समय से चली आ रही समाज व्यवस्था में वह अत्याचार है और नव निर्माणाधीन व्यवस्था में समानता। यदि भारत की महिलाओं को आधुनिक व्यवस्था पर चलना है तो हल जोतना उनका अधिकार भी है और दायित्व भी। मैं देख रहा हूं कि सम्पूर्ण भारत में महिला अत्याचार की आवाज उठाना अब एक तो फैशन बन रहा था और अब पेशा। किसी परिवार ने महिला को हल जोतने से रोक दिया तो महिला उत्पीड़न और हल जोतने को बाध्य किया तब भी उत्पीड़न। हमें सबसे पहले तो यह तय करना होगा कि महिला स्वयं में समाज की ईकाई या परिवार की या व्यक्ति के रूप में? भारत में त्रिस्तरीय समाज व्यवस्था, (1) व्यक्ति (2) परिवार (3) समाज। इस त्रिस्तरीय व्यवस्था में महिला कहां खड़ा होना चाहती है। एक बहू को सास ने पीटा तो महिला अत्याचार और बहू ने सास को घर से निकाला तब क्या? इस मुद्दे पर विस्तृत चर्चा एक अलग लेख के रूप में करने का प्रयत्न करूंगा। इस सम्बन्ध में मुझे विस्तृत अनुभव है कि समाज में जो स्वजीवी लोग हैं वे ऐसी चर्चाओं को कम महत्व देते हैं और परजीवी लोग बात को बतंगड़ बनाते हैं जो बेचारा दिन भर हल जोतता है या व्यापार करता है उसे न तो इतना समय है न ही जानकारी। किन्तु जो परजीवी है उनकी रोजी–रोटी तो इन स्वजीवियों से ही आराम चलती है। ये धूर्त परजीवी दिन–रात समाज की चिन्ता में दुबले होते रहते हैं, क्योंकि यही चिन्ता तो उनका व्यवसाय है। लगातार समाज सेवा के नाम पर नई–नई तिकड़म के मार्ग खोजे जा रहे हैं। हम किसी भी सामाजिक विषय पर चर्चा करने के पूर्व अवश्य देख लें कि चर्चा करने वाला यदि पेशेवर समाजसेवी होगा तो वह समस्या को सुलझाने की अपेक्षा उलझाने में अधिक सक्रिय होगा।

(ग) पत्रोत्तर

आचार्य गुरूशरण, 68 सिन्धी कालोनी, ग्वालियर, म.प्र. प्रतिक्रिया :– इस अंक में आपने भारत में साहित्य की दशा और दिशा पर जो विचार मंथन किया है उसमें आपने साहित्य और साहित्यकारों को जिस दृष्टि से देखा है व उचित नहीं है। संवेदनात्मकता को ही साहित्य कहते हैं। साहित्य की अपनी संस्कृति है जो भारत में ही नहीं अखिल विश्वव्यापी है। साहित्य का सम्बन्ध सत् और हित से है। हर क्षण जिन बातों से समाज का क्षर हो रहा है वह अक्षर का विषय है। पर अक्षरों का उपयोग रचनात्मक, विधायक और सृजनात्मक होना चाहिए।

आपके पुनः कुछ ऐसे प्रश्न उठा दिये हैं जो मेरी दृष्टि से सर्वथा अनुचित है। जैसे गांधी, विनोबा और जय प्रकाश की चर्चा करते हुए आपके आचार्य विनोबा भावे को संगठन बनाने वाला व्यक्ति कह दिया जबकि विनोबा ने तो तंत्र मुक्त होने की बात कही थी और उनका समग्र विचार शासन और शोषण मुक्त का विचार है। आपकी कुछ उपमाएं भी पढ़ते समय खटकने वाली लगी। जैसे – विचार लंगड़ा है और साहित्य अंधा (पृष्ट–7) बिना साहित्य के विचार की स्थिति एक वस्त्रहीन नारी के समान है (पृष्ट–7) यह लेख आप जैसे सुलझे विचारक का नहीं हो सकता। ज्ञान तत्व पाक्षिक जब भी आता है मैं इसे मनोयोग पूर्वक अपने ज्ञानवर्धक के लिए पढ़ता हूं पर मेरा निश्चित मानना है कि जो हम करते हैं उसका हमारे जीवन में और समाज में व्यापक प्रभाव पड़ता है और जो कहते हैं उसका उतना असर नहीं होता। हमारी करनी और रहनी ये दोनों ही कथनी से कहीं अधिक महत्वपूर्ण हैं और इसी दृष्टि से गांधी को रह–रहकर भारत में ही नहीं समूचे विश्व में याद किया जाता है। गांधी दृष्टि और साहित्य दृष्टि में सत् और हित की दृष्टि से एक अद्भुत साम्य है। सच्चा साहित्य तो स्वयं सत्य की तलाश की एक स्वायत्य प्रक्रिया है वह जीने की राह दिखाता है।

उत्तरः– आप हमारे सम्पूर्ण विचार मंथन में करीब बीस वर्षों से जुड़े हैं। रामानुजगंज के जंगल में भी अन्य अनेक विद्वानों के साथ कई–कई दिनों तक आपके साथ विचार मंथन होता रहा है। आपका महत्व तथा उपयोगिता मैं जानता हूं। मैंने जो लेख लिखा उस पर साहित्य जगत की प्रतिक्रिया का आभास मुझे पूर्व से ही रहा है। मेरे सरगुजा जिले के वरिष्ठ साहित्यकारों ने दिसम्बर चार में एक बैठक में मेरी जो दुर्गति की थी वह मुझे याद है किन्तु किसी भी साहित्यकार ने उस

बैठक में साहित्य और विचार या सात्यिकार और विचारक के अन्तर पर एक शब्द भी समझने का प्रयत्न नहीं किया सब लोग एक स्वर से आक्रोश व्यक्त करते रहे। आप जैसे विद्वानों ने मुझे ट्रेनिंग दी है कि बिना समझे दबाव में आकर स्वीकार करना मेरे जैसे व्यक्ति के लिए उचित नहीं। इसलिए मैं साहित्य और विचार जैसे मुद्दे पर आपसे अधिक गंभीर विचार मंथन का इच्छुक हूं।

मैंने लिखा था कि विचार अैर साहित्य एक दूसरे के पूरक होते हैं। साहित्यकारों ने इस सम्बन्ध में लिखा कि विचारक और साहित्यकार अलग–अलग नहीं होते, बल्कि साहित्यकार विचार तो करता ही है। यदि यह बात मान ली जाये तो क्या हर विचारक भी सात्यिकार होता है? मुझे तो ऐसा नहीं लगा। सुदूर जंगलों में वर्षों एकान्त विचार मंथन लीन विचारकों की साहित्य में भूमिका कैसे तलाशी जाये। मैं जातना हूं कि कोई भी व्यक्ति न विचार शून्य होता है न साहित्य शून्य। किन्तु सामान्य लोगों की अपेक्षा कुछ अधिक क्षमता वालों की साहित्य या वैचारिक क्षमता पर विशेष चर्चा होती है। उनमें भी गांधी सरीखे बिरले लोग मिल जाते हैं जिनमें दोनों ही प्रकार की क्षमताएं साथ–साथ हो किन्तु जय प्रकाश जी को तो विचार प्रधान ही मानते हैं। साहित्य प्रधान नहीं। मैंने यह भी लिखा है कि आज भारत में विचार मंथन का अभाव हो गया है। राजनेताओं ने स्वयं को विचारक घोषित कर दिया है। ये विचार मंथन हीन लोग निष्कर्ष निकाल रहे हैं और जो भी निष्कर्ष साहित्य को दे रहे हैं उसे पूरी ईमानदारी से साहित्य समाज तक पहुंचा रहा है। यह अलग बात है कि राजनीति ने भी साहित्य जगत में अपनी प्रतिबद्धता की घुसपैठ बनाकर एक नई समस्या खड़ी कर दी है, किन्तु यह तो साहित्यकारों के विषय में पृथक से सोचा जा सकता है, साहित्य का प्रभाव और उपयोगिता तो आज भी ठीक–ठीक ही है। यदि साहित्य और साहित्यकारों पर कोई प्रश्न उठाना उचित नहीं तो साहित्यकारों को यह स्वीकार करना चाहिए कि या तो साहित्य निष्कर्ष गलत निकाल रहा है या साहित्य समाज पर अपना प्रभाव खो रहा है। यदि प्रशंसा के लिए साहित्य जगत इतना आतुर है तो ग्यारह समस्याओं के साठ वर्षों तक लगातार विस्तार का उत्तर भी तो उसे ही देना चाहिए।

आपके संवेदनात्मकता और साहित्य को एक कहा। आप इस बात को कुछ और सरल भाषा में समझाइये। किन्तु साहित्य की अपनी विधा है भिन्न संस्कृति नहीं जो विश्वव्यापी है इससे मैं पूरी तरह सहमत हूं। मैं मानता हूं कि संस्कृति पर साहित्य का ही मुख्य प्रभाव पड़ता है विचार कभी संस्कृति पर प्रभाव नहीं डालता क्योंकि विचार को संस्कृति पर प्रभाव डालने के लिए साहित्य रूपी माध्यम की अनिवार्य आवश्यकता है।

आपने सत्, हित, क्षर–अक्षर आदि शब्दों के माध्यम से जो कुछ बताना चाहा है वह मेरे स्तर से ऊपर का विषय है या कठिन भाषा है। चर्चा बढ़ेगी तभी मैं स्वीकार या टिप्पणी कर सकूंगा। किन्तु मैंने साहित्य और विचार की जो तुलना की है वह मेरी अपनी ही है। इसमें आप कोई संदेह न करें। मैंने जो लिखा है वह सही भी हो सकता है और गलत भी, किन्तु मेरी गलती को बिना संतुष्ट किये आप गलत कहकर चुप कराने का प्रयत्न करें यह आप जैसे विद्वान के लिए उचित नहीं। यदि आपके कहीं मेरी कथनी और करनी में भेद दिखा तो आप मुझे डांट भी सकते हैं, किन्तु यदि मेरी कथनी और करनी की एकरूपता मेरे लिए अज्ञान का उदाहरण बने या समाज के लिए हानिकर हो तब सिर्फ डांटने मात्र से काम नहीं चलेगा, बल्कि आपको समझाना होगा और ऐसा मुझे विश्वास है कि आप ऐसा करेंगे।

अब हम साहित्य से बाहर निकलकर विचार मंथन में प्रवेश करें। विनोबा जी को मैंने संत हृदय और संगठन का व्यक्ति बताया था। यदि विनोबा जी की कथनी और करनी एक रही है और उन्होंने तंत्र मुक्ति का नारा दिया तो विनोबा जी ने तंत्र मुक्ति के लिए किया क्या? विनोबा जी की शोषण मुक्ति छटपटाहट पर मैंने प्रश्न नहीं उठाया है, किन्तु शासन मुक्ति के प्रयत्नों में विनोबा जी ने गंभीर बाधा भी पैदा की और तंत्र मुक्ति का नारा भी देते रहे। गांधी जी ने कभी नहीं कहा था कि अंग्रेजों की गुलामी से संघर्ष तो मत करो किन्तु स्वयं उसके प्रभाव से मुक्त हो जाओ। जय प्रकाश जी के धैर्य का बांध भी जब टूटने लगा तब भी विनोबा जी तंत्र मोह नहीं छूटा। दुनिया जानती है कि विनोबा जी की ताकत के अभाव में जय प्रकाश जी को मत भिन्न राजनेताओं से समझौते करने पड़े और क्रांति का एक प्रयत्न विफल हो गया।

विनोबा जी ने एक बड़ा आंदोलन ''भूदान'' किया। इस आन्दोलन से समाज की एक बड़ी समस्या के समाधान के अवसर थे। मैं उनके इस कार्य को समर्थक हूं, किन्तु भूदान आन्दोलन में भी तंत्र मुक्ति के तो कोई प्रयत्न नहीं थे। विनोबा जी ने तंत्र मुक्ति का कोई गंभीर प्रयत्न किया हो या आह्वान किया हो ऐसा उदाहरण सामने आना चाहिए। गांधी जी जीवन भर तंत्र मुक्ति की जो परिभाषा समझाते रहे उस परिभाषा को विनोबा जी ने एकदम से पलट दिया। मैं विनोबा जी की शराफत, विद्वत्ता का कायल हूं, किन्तु नेहरू जी सरीखे चालाक राजनीतिज्ञ से जब वायसराय सरीखे लोग धोखा खा गये तो विनोबा जी का धोखा खाना तो बिल्कुल सामान्य सी बात है। गांधी हत्या के तत्काल बाद ही सेवा ग्राम में प्रधानमंत्री नेहरू सहित सभी नेता बैठे थे। इन सबकी सहमति से ही तंत्र मुक्ति और संघर्ष मुक्ति की नई राह शुरू हुई। विनोबा जी ने जो नई परिभाषा बनायी आज तक सर्वोदय उससे मुक्त नहीं हो पाया है। गांधी जी के जीवित रहते तक तंत्र पर लोक हावी था, किन्तु बांधी हत्या के बाद तंत्र लोग पर हावी हो गया। इस परिणाम का दोष हम सबको स्वीकार करके ही आगे का मार्ग तलाशना पड़ेगा।

अन्त में आपने गांधी और साहित्य के बीच सत और हित की दृष्टि से साम्य खोजा है। यह उत्तर भी मेरे लिए कठिन है। यदि आचार्य पंकज जी इस सम्बन्ध में मेरे और आपके बीच चर्चा में दोनों की सहायता करें तो अच्छा होगा। सच्चे साहित्य की स्थिति क्या है, पहचान क्या है और परिणाम में असफलता क्यों है। इसका उत्तर तो सच्चे साहित्यकार ही दे सकते हैं। मैं तो आप सबके बीच में ही विचार मंथन में दिन–रात लगा हुआ हूं।

ज्ञान तत्व पृष्ठ तेरह और बाहर में भी पृष्ठ संशोधन की बात आपने बतायी उसके लिए मैं आभारी हूं।

परमादरणीय गुरूशरण जी,

नित्याभिवादन।

परमश्रद्धेययास्पद–बजरंगमुनि जी तथा आपके पत्र 12.07.07 अंतर्देशीय के सन्दर्भ में।

चिन्तन तथा उसका स्वरूप साहित्य के रूप में लेखनी से जो आकार ग्रहण करता है उसे हम लोक से वेद की यात्रा कहते हैं। महाकवि वाल्मीकि का आदि काव्य रामायण इसका प्रथम प्रमाण है। ''श्लोकः शोकात् समुत्पन्नः क्रौच वध से शोक, तत्पश्चात् श्लोक का सृजन।

''संवेदनात्मकता को ही साहित्य कहते हैं।'' संवेदना मात्र आलोक होती है। साहित्य सृजन में बौद्धिक तथा आत्मिक संयुक्त प्रयास से ही अब तक का परिणाम है। मंत्रों का विकास संस्कृति तथा यंत्रों का विकास सभ्यता है। साहित्य का सीधा संबंध परम्परा से है। लोक–परम्परा उसमें अधिक प्रभावी है। साहित्य की वैयाकरण व्युत्पत्ति सत् और हित नहीं होता है। सहितम् + हितम् इति साहित्यम्। क्षर तथा अक्षर भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से परस्पराकारण हैं। पाणिनी के अष्टाध्यायी में इस पर गंभीर विवेचना है।'' कवयः क्रांति दर्शाः'' में रचनात्मकता के स्थान पर ध्वंसात्मक प्रतियोगी भाव है। रचना में रेखकीय क्रिया है जबकि संवेदना में दृश्य भाव। विचार हमेशा चुनौती का विषय होता है। विचार के सत्य की कसौटी व्यवहार है। विचार तथा साहित्य में पारस्परिक अन्तः संबंध है इसी संयोग से वेद, कुरान, बाइबिल तथा अवेस्ता आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रादुर्भाव है। आपका पत्र गंभीर है। बड़ी गहनता से अध्ययन के बाद कुछ लिखने की धृष्टता कर सका हूं।

आशा है आप स्वस्थ एवं प्रसन्न होंगे।

सदैव आपका

आचार्य पंकज

उत्तरः– आचार्य गुरूशरण जी के पत्र के उत्तर आचार्य पंकज जी ने दिया है। आचार्य गुरूशरण जी के पत्र के कुछ अंश और आचार्य पंकज जी के उत्तर के अंश मेरी क्षमता से ऊपर होने से मैं इस पत्राचार से स्वयं को किनारे रखना ही उचित समझता हूं। यदि कोई और पत्राचार हुआ तो आप तक भेज सकूंगा।

श्रीराम नरेश कुशवाहा, बरैली, उत्तर प्रदेश।

प्रश्नः– भारतीय राजनीति में चरित्र की मात्रा क्या है इसकी विस्तृत समीखा करें।

उत्तरः– लोकतंत्र कार्यपालिका, विधायिका और न्यायपालिका के ठीक–ठीक संतुलन से सफल होता है। लोकतंत्र में व्यवस्था से जुड़े तीनों अंगों के व्यक्तियों के व्यक्तिगत चरित्र का तब तक कोई ज्यादा प्रभाव नहीं होता जब तक व्यवस्था टूटती नहीं।

भारत में व्यवस्था को तोड़कर विधायिका के लोगों ने खींचतान शुरू की। लोकतंत्र का पलड़ा विधायिका के पक्ष में झुकता गया। व्यवस्था टूटती गयी और चरित्र की आवश्यकता महसूस होने लगी। सच्चाई यह है कि भारत की जिस शासन व्यवस्था को हम लोकतंत्र कहते हैं वह तो सिर्फ लोकतंत्र का नाम है। लोकतंत्र की आदर्श स्थिति तो लोकस्वराज्य है जिसमें लोक के नियंत्रण में तंत्र चलता है। मध्यम स्थिति यह है कि जो पश्चिम के देशों में है जहां तंत्र लोक पर नियंत्रण तो करता है, किन्तु न्यूनतम और तीसरा भारत है जहां तंत्र लोक पर शासन करता है। यही कारण है कि भारत में विधायिका के सामूहिक आचरण की अपेक्षा व्यक्तिगत आचरण की ज्यादा चर्चा होती है।

यदि राजनैतिक दलों के आचरण की समीक्षा करें तो साम्यवादियों के आचरण के समक्ष किसी और दल का आचरण नहीं ठहरता। संतुलिक भाषा, सुनियोजित वक्तव्य, तथा स्पष्ट लक्ष्य साफ–साफ दिखाई देता है। साम्यवाद की नीतियों से मेरी पूरी असहमति है, किन्तु अपनी नितियों के लिए आचरण के मामले में वे सबसे ऊपर है। कुछ वर्ष पूर्व तक भाजपा का चरित्र साम्यवादियों के बाद माना जाता था और कांग्रेस से अच्छा, किन्तु सोनिया जी के आने के बाद सोनिया गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस की गंभीरता का ग्राफ ऊपर जा रहा है। दूसरी ओर अटल जी का स्थान जब से आडवाणी जी ने ले लिया है तब से भाजपा का ग्राफ निम्नतम स्तर तक जा रहा है। जिस देश में विपक्ष का नेता इतना नासमझ हो कि उत्तरांचल, दिल्ली और पंजाब जैसे दो–तीन छोटे–छोटे राज्यों के विधानसभा चुनाव जीतते ही अपने दल में नेतृत्व का प्रत्यक्ष विवाद शुरू कर दे उस दल के सामूहिक आचरण की तुलना उन दलों से कैसे की जा सकती है जहां ज्योति बसु और सोनिया गांधी ने आदर्श प्रस्तुत किया है। सोनिया गांधी और ज्योति बसु के त्याग की मैं चर्चा नहीं कर रहा। मैं तो उनके त्याग में शालीनता की चर्चा कर रहा हूं। सोनिया और ज्योति बसु भारतीय संस्कृति के आदर्श नहीं माने जाते क्योंकि भारतीय संस्कृति के आदर्श की ठेकेदारी तो संघ परिवार के पास है जिसके प्रतीक पुरूष आडवाणी जी हवा में ही दावेदारी की कसरत शुरू कर देते हैं और वह भी सार्वजनिक बयान देकर। ऐसी निर्लज्ज सत्ता लोलुपता के उदाहरण से तो राजनीति भी कलंकित होती है। एक ओर गांधी और जय प्रकाश का त्याग, दूसरी सोनिया गांधी और ज्योति बसु की शालीनता और तीसरी ओर आडवाणी जी की छटपटाहट में से किसको भारतीय संस्कृति कहें यह संघ के लोग ही बता सकते हैं मैं नहीं।

वर्तमान राष्ट्रपति के चुनाव में भी भारतीय जनता पार्टी की त्याग की छवि बहुत धूमिल हुई है। भैरोसिंह शेखावत ने जिस तरह राष्ट्रपति बनने की कसरत शुरू की वह उचित नहीं थी। कहां राष्ट्रपति कलाम की शालीनता और कहां भैरोसिंह शेखावत जी की छटपटाहट। संघ की भारतीय संस्कृति के पले–बढ़े भैरोसिंह शेखावत जी सत्ता के स्वाद से चिपके रहने के लिए बेहाल थे और भारतीय संस्कृति के लिए बिल्कुल अनजान राष्ट्रपति कलाम जिन्होंने शालीनता अन्त तक नहीं छोड़ी। यदि भारतीय संस्कृति की तुलना ही करनी हो तो एक पलड़े पर सोनिया गांधी, ज्योति बसु अब्दुल कलाम और संघ संस्कृति भ्रष्ट अटल बिहारी वाजपेयी को रखे और दूसरी ओर भाजपा के लालकृष्ण आडवाणी और भैरोसिंह शेखावत जैसे पद लोलुपों को रखें तो भारतीय संस्कृति साफ दिख जायेगी।

वैसे कांग्रेस का चुनाव प्रचार भाजपा की अपेक्षा बहुत सुनियोजित था। उसमें गम्भीरता अधिक थी छिछोरापन कम। वोटों की गिनती के तत्काल बाद अवश्य ही कांग्रेस ने भी शालीनता को त्याग कर अपनी पहचान दिखाने की कोशिश की। गिनती के तुरन्त बाद प्रियरंजनदास मुंशी ने उपराष्ट्रपति भैरोसिंह शेखावत से त्यागपत्र की मांग करके आचरण का वही उदाहरण दिखाया जो भाजपा वाले दिखा रहे थे। चुनाव हारने के बाद भी भैरोसिंह शेखावत जी उपराष्ट्रपति थे। उन्होंने अपना त्यागपत्र दो घण्टे बाद दिया। क्या कांग्रेस के प्रवक्ता को कम से कम एक दिन चुप नहीं रहना था? उपराष्ट्रपति के पद को राजनीति में घसीटने की भाजपा ने जो भूल की वह भूल करने

के लिए प्रियरंजनदास मुंशी सरीखे लोग कांग्रेस में भी छटपटा रहे थे तभी उन्होंने उपराष्ट्रपति पद की गरिमा का मूर्खतापूर्ण राजनीतिकरण कर दिया। क्या बिगड़ जाता यदि उपराष्ट्रपति एक दिन बाद ही पद छोड़ देते? सोनिया जी को ऐसे स्तरहीन वक्तव्यों पर रोक लगानी चाहिए।

अभी कुछ दिन पूर्व पूर्व प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर जी की अन्तिम यात्रा हुई। बहुत प्रशंसा के नाटक किये गये। त्यागमूर्ति और जाने किन–किन शब्दों से प्रशंसा के लेख लिखे गये। एक कोने में एक समाचार छपा था कि चन्द्रशेखर जी ने मरने के पहले इच्छा व्यक्त की थी कि उनका दाह संस्कार दिल्ली में किसी राष्ट्रीय नेता के पास ही किया जाये। समाचार पढ़कर मन घृणा से भर उठा। भारत की राजनैतिक कुर्सी पर कई धूर्त बैठ चुके हैं और कई भविष्य में भी बैठेंगे यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। किन्तु संतुलन और त्याग के आदर्श का ढिंढोरा पीटने वाला अन्तिम समय में अपनी अन्तिम इच्छा के रूप में असलियत पर उतर आवे तो पूरे जीवन का चित्र समाज के समक्ष आना स्वाभाविक है। चन्द्रशेखर जी की मृत्यु पूर्व उनकी इच्छा ने प्रमाणित किया है कि वे कितने आन्तरिक आदर्श पुरूष थे और कितना आदर्श ढोंग था।

संभव है कि आप गांधी और जयप्रकाश के समान उच्च आदर्श प्रस्तुत न कर सकें तो कम से कम अटल जी सोनिया गांधी जी, ज्योति बसु और कलाम जी तक की व्यावहारिकता का तो पालन करें। यदि आपने आडवाणी जी, भैरोसिंह शेखावत और चन्द्रशेखर जी सरीखे राजनीति की दुकानदारी ही करनी है तो उस दुकान पर संस्कृति और त्याग का बोर्ड लगाने की क्या जरूरत है? बहुत से दुकानदार अपनी–अपनी दुकानों पर राजनीति का बोर्ड लगाकार यू.पी. से तमिलनाडु तक बैठे हैं आप भी वैसा ही बोर्ड क्यों नहीं लगा लेते।

मैंने कर्णसिंह जी के आचरण को अनुचित लिखा था जो उनकी भूल थी। भैरोसिंह शेखावत जी का आचरण भूल नहीं थी, बल्कि यथार्थ था। उनके स्वार्थ का अब तक छिपा रहना हमारी भूल थी जो अब प्रकट हुई है। अच्छा हो कि भविष्य में हम ऐसी भूल से बचें।

कुछ दिन पूर्व नानाजी देशमुख ने संघ को सलाह दी है कि वह राजनीति के दलदल से दूर हो जावें। नाना जी की सलाह ने मामला और उलझा दिया है। नाना जी पहले यह बताने की कृपा करें कि वे अब राजनीति में है या नहीं? उनका राजनीति से आशय क्या है? राजनैतिक महत्वाकांक्षा अलग बात है और राजनीति पर नियंत्रण भिन्न बात। नीतियां तीन प्रकार की है (1) आर्य समाज, गायत्री परिवार अैर गांधी हत्या के बाद के सर्वोदय की राजनीति से दूरी। यह दूरी पूरी तरह घातक सिद्ध हो रही है। राजनीति पर समाज का कोई नियंत्रण नहीं है। जिस महापुरूष ने स्वामी दयानन्द के रूप में राजा पर सामाजिक नियंत्रण के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी थी उसी आर्य समाज ने राजनीति से दूरी बनाकर राजनीतिज्ञों को स्वतंत्रता की खुली छूट दे दी है। यह दूरी हमारी कायरता की प्रतीक है। (2) संघ परिवार की राजनीति से दूरी। संघ परिवार ने सत्ता सुख के लिए एक भारतीय जनता पार्टी बना ली। संघ ने समक्ष कि सारा हिन्दुस्तान मूर्ख है वही सिर्फ होशियार है। राजनीति के सुख में भी शामिल रहेंगे और कीचड़ से भी दूर रहेंगे, किन्तु हुआ उल्टा। राजनीति का सुख तो अटल, आडवाणी ले गये और कीचड़ मिला संघ के जिम्मे। एक तीसरा मार्ग था गांधी जयप्रकाश का जिस पर नाना जी भी बढ़ना चाहते थे, किन्तु संघ मोह ने उन्हें रोक दिया और वे भी गांधी मार्ग छोड़कर सर्वोदय आर्य समाज, गायत्री परिवार मार्ग पर समाज सेवा की ओर चल पड़े। नाना जी देशमुख स्पष्ट करें कि वे किस त्याग की सलाह दे रहे हैं। यदि वे पहले मार्ग की सलाह दे रहे हैं तो समाज का बहुत नुकसान हो जायेगा क्योंकि संघ कुछ तो राजनीति में चरित्र का हिमायती है। उसके दूर होते ही राजनेताओं को और सुविधा हो जायेगी। यदि नाना जी तीसरे मार्ग को चाहते हैं तो वह उनकी बहुत अच्छी सलाह है। यही एकमात्र मार्ग है। संघ इस दिशा में आगे बढ़ सकता है। मेरी तो सलाह है कि भारत की सभी समस्याओं का समाधान है कि अटल जी, सोनिया जी, मनमोहन सिंह जी, वी.पी. सिंह जी, अब्दुल कलाम सरीखे दस बाहर लोग एक वर्ष तक एक साथ बैठकर न्यूनतम कार्यक्रम बनावें और नाना जी उसके संचालक हों। यदि ऐसा न हो तो हम लोग वर्तमान स्थिति को अस्वीकार करके एक तीसरे तरह का प्रयोग करने की सोच रहे हैं जिसमें मैं, ठाकुर दास जी बंग, रामबहादुर जी राय, गोविन्दाचार्य जी, अशांक गाड़िया जी, ओमप्रकाश दुबे जी आदि पहल करने की योजना बना रहे हैं।

यदि नाना जी देशमुख सरीखा कोई व्यक्तित्व इस दिशा में हाथ बढ़ा दे तो यह काम आसान हो सकता है अन्यथा हम लोग तो शुरू कर ही रहे हैं।

(घ) उत्तरार्ध–

बाइस जुलाई दो हजार सात को बजरंग मुनि जी की अध्यक्षता में एक विशेष बैठक हुई। बैठक में वर्ष भर के कार्यों की समीक्षा हुई और नया ढांचा बनाने की घोषणा की गयी जो इस प्रकार हैः–

(1) व्यवस्था परिवर्तन अभियानः–

(1) इसके अध्यक्ष अशोक गाड़िया जी, कार्यकारी अध्यक्ष ओमप्रकाश दुबे जी, महासचिव घनश्याम जी गर्ग तथा कोषाध्यक्ष लवानिया जी होंगे।

(2) व्यवस्था परिवर्तन अभियान चार प्रकार के कार्यों में संलग्न व्यक्तियों या संगठनों को आर्थिक सहायता भी देगा तथा अन्य प्रकार का प्रोत्साहन तथा सहयोग भी करेगा।

क. – समाज में स्वतंत्र विचार मंथन प्रणाली को जागृत तथा प्रोत्साहित करना।

ख. – भारतीय संविधान में व्यापक संशोधनों हेतु स्वतंत्र विचार मंथन और निष्कर्ष।

ग. – लोकतंत्र की वर्तमान परिभाषा लोक नियुक्त तंत्र को लोक नियंत्रित तंत्र में बदलने हेतु दो सूत्री संविधान संशोधन अभियान।

घ. – समाज में श्रम कमी उपेक्षा और शोषण से श्रम की विशेष सुरक्षा।

(3) वर्तमान में अभियान चार संगठनों को सहायता कर रहा हैः–

क. – ज्ञान यज्ञ मंडलः– यह संगठन स्वतंत्र विचार मंथन का काम करेगा। आधे घण्टे के यज्ञ के बाद किसी एक विषय पर स्वतंत्र विचार मंथन से यह कार्य शुरू होगा। कम से कम माह में एक यज्ञ आवश्यक है। दिल्ली के बाहर समय–समय पर विशेष यज्ञ भी हो सकते हैं। इसके संयोजक का दायित्व सुरेश जी, मयूर विहार दिल्ली को दिया गया। महावीर सिंह जी उनका मागदर्शन करेंगे।

ख. – संविधान मंथन सभाः– यह संगठन भारतीय संविधान पर व्यापक विचार मंथन द्वारा कुछ निश्चित निष्कर्ष निकालेगा तथा अधिकतम दो हजार नौ तक पूर्णता प्रदान कर लेगा। इसके संयोजक श्री संजय तिवारी जी होंगे। मार्गदर्शन श्री रामबहादुर जी राय करेंगे।

ग. – लोक स्वजराज्य मंचः– यह संगठन भारत के राजनीतिज्ञ और राजनीति पर नियंत्रण हेतु दो सूत्री संविधान संशोधन का राष्ट्रव्यापी आंदोलन खड़ा करेगा। इसके वर्तमान अध्यक्ष आचार्य पंकज जी, उपाध्यक्ष सुनील एक्का जी तथा सचिव दीनानाथ वर्नवाल जी हैं।

आन्दोलन के दो सूत्र होंगे (1) प्रतिनिधि वापसी की संवैधानिक व्यवस्था तथा (2) परिवार, गांव, जिले के संवैधानिक अधिकारों की सूची संविधान में शामिल करना।

घ. – श्रम शोषण मुक्ति अभियानः– यह संगठन भारत में श्रम शोषण के वर्तमान बुद्धिजीवी, पूंजीपति षड़यंत्र के विरूद्ध एक सूत्री अभियान चलायेगा जो इस प्रकार होगा–

सम्पूर्ण कृत्रिम ऊर्जा (डीजल, पेट्रोल, बिजली, कोयला, मिट्टी के तेल आदि) की इतनी अधिक मूल्य वृद्धि कर दी जावे किः–

(A) गरीबी रेखा से नीचे के प्रत्येक व्यक्ति को गरीबी रेखा जीवन मूल्य (वर्तमान में चार सौ रू. प्रति व्यक्ति प्रतिमाह) मिलने की गारण्टी हो।

(B) ग्रामीण गरीब श्रमजीवी व्यक्तियों द्वारा उत्पादित तथा उपभोग की सभी वस्तुएं कर मुक्त हों।

(C) समाज में न्यूनतम श्रम मूल्य (वर्तमान में एक सौ बीस रूपया प्रतिदिन) पर रोजगार सुलभ हो।

(D) व्यवस्था परिवर्तन अभियान का न्यूनतम सदस्यता शुल्क एक सौ रू. मासिक या एक हजार रू. वार्षिक या चार हजार रू. एक बार में देय होगा।

(E) व्यवस्था परिवर्तन अभियान का ढांचा अधिकार मूलक न होकर कर्तय मूलक होगा अर्थात् व्यवस्था परिवर्तन अभियान किसी भी अन्य संगठन को सहायता कर सकता है, मार्गदर्शन दे सकता है किन्तु अधिकार पूर्वक हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

(F) इस अभियान के संरक्षक बजरंग मुनि जी होंगे।

व्यवस्था परिवर्तन अभियान का प्रस्तावित स्वरूप आप तक प्रेषित है। यदि कोई संशोधन या सुझाव हो तो आप शीघ्र भेंजे।

भूल सुधारः– पृष्ठ गड़बड़ी अंक 35 में–

(1) पृष्ठ तीन के जगह दो और दो की जगह तीन चाहिए।
(2) पृष्ठ चार की जगह पांच और पांच की जगह चार चाहिए।
(3) पृष्ठ बाहर की जगह तेरह और तेरह की जगह बारह चाहिए।
(4) पृष्ठ बीस की जगह इक्कीस और इक्कीस की जगह बीस।
(5) पृष्ठ छब्बीस की जगह सत्ताईश और 27 की जगह छब्बीस।